ब्रह्ममुनिग्रन्थमाला सं० ८ | प्रियग्रन्थमाला सं० २६

वैदिक योगामृत

जिसमें

अहिंसा से लेकर समाधिपर्यन्त समस्त योगाङ्गों का

सर्वाङ्गपूर्ण वेदोक्त वर्णन है

तथा

भारतीय एवं वैदिक संस्कृति का अनुपम आदर्श

प्रतिपादित है

लेखक और प्रकाशक

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक
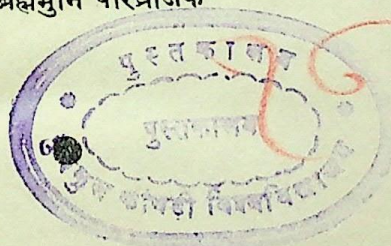
पुस्तक मिलने का पता

सार्वदेशिक पुस्तकालय, पटोदी हाऊस, दरियागंज, देहली

तथा

गोविन्दराम हासानन्द, आर्यसाहित्यभवन, नई सड़क, देहली

प्रथम वार २०००] पौष २००६ वि० [मूल्य ॥=)

❀ ओ३म् ❀

उपक्रम

अध्यात्म मार्ग में चलने के लिये इस समय दो प्रक्रियाएं प्रचलित हैं। एक उपासना और उपासक की दूसरी भक्ति और भक्त की। उपासना और उपासक की प्रक्रिया प्राचीन है भक्ति और भक्त की प्रक्रिया नवीन है। सेवार्थक 'भज' धातु से भक्ति शब्द बना है "भज सेवायाम्" (भ्वादि०) भक्ति का अर्थ हुआ सेवा और भक्त सेवक हुआ। सेवा कहते हैं किसी की आवश्यक वस्तुएं पण्यवीथी (बाजार) से ला देना, भोजन बना देना, पात्र मार्जन करना, झाड़ू लगा देना, वस्त्र धो देना, अङ्ग दबाना, रोगी हो जाने पर औषधोपचार एवं परिचर्या करना, अतिरुग्ण हो जाने पर मलमूत्र तक उठाना शुद्धि करना आदि। यह प्रक्रिया अध्यात्ममार्ग में तब से आई जब से कि लोगों ने ईश्वर का अवतार मानना आरम्भ कर दिया। उनके जीवनकाल में तो साक्षात् उनकी सेवा हुई पुनः उनके देहान्त के पश्चात् उनकी मूर्ति बना मूर्ति को नहलाना वस्त्र पहिनाना झुलाना चामरी करना सुलाना जगाना मुट्ठी भरना भोग लगाना आदि रूप भक्ति चल पड़ी। यह भक्ति और भक्त की प्रक्रिया हुई जोकि नवीन है आधुनिक है साम्प्रदायिक है। इस में भक्त अर्थात् सेवक का

आसन अलग है और स्वामी का आसन अलग है सेवक कभी स्वामी का स्थान नहीं ले सकता।

उपासना और उपासक की प्रक्रिया प्राचीन है दार्शनिक है उपनिषदों की है ऋषिमुनियों की है और वैदिक है। 'उपासना' शब्द 'उप' पूर्वक बैठने अर्थ वाले 'आस' धातु से बना है "आस उपवेशने" (अदादि०) उपासना का अर्थ हुआ पास बैठना साथ बैठना और उपासक पास या साथ बैठने वाला हुआ। माता के पास या साथ बैठा जाता है। पिता के पास या साथ बैठा जाता है। और उनकी सम्पत्ति का भी वैसा ही अधिकारी बन जाता है। गुरु के पास बैठा जाता है, एक दिन अध्यापनार्थ उसके आसन तक पर बैठ जाता है, मित्र के साथ बैठा जाता है। उनके समान सुख का भाजन बनता है। परमात्मा हमारा माता है पिता है गुरु है और मित्र भी है❀। माता पिता अपनाते हैं जबकि उनके अनुरूप होता है उनके शील को धारण करता है गुरु अपनाता है जबकि उसके गुण ग्रहण करने लगता है मित्र अपनाता है जबकि उस जैसा स्वभाव धारण करता है। सो उस मातृ-रूप गुरुरूप मित्ररूप परमात्मा के शील गुण स्वभाव पवित्र हैं,

---

❀ "त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ"

(ऋ० ८।९८।११)

"प्र नूनं ब्रह्मणस्पति र्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्" (ऋ० १।४०।५)

"सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते" (ऋ० १।११।२)

: तीन :

पवित्र शील स्वभाव एवं सद्‌गुणों का आगार या आधार परमात्मा है तब अपने में पवित्र शील स्वभाव एवं सद्‌गुणों का धारण करना अपने को उसके पास एवं साथ बैठने का पात्र या अधिकारी बनाना है। अतएव पातञ्जल योग दर्शन में प्रथम सद्‌गुणरूप अहिंसा आदि यमनियमनामक व्रताभ्यास का सेवन करना बतलाया है और पश्चत् आसन प्राणायाम आदि क्रियाभ्यास को दर्शाया है। हम इस सन्दर्भ में दोनों अभ्यासों का वैदिक दृष्टि से निरूपण करेंगे। व्रताभ्यास का प्रथम स्थान है वह प्रथम "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" (योग दर्शन २।३० व्यासः) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पांच यम हैं। अब इनका तथा अन्य अभ्यासों का क्रमशः प्रदर्शन करते हैं।

वैदिक योगामृत

अहिंसा

प्रत्येक शब्द अपना शाब्दिक अर्थ रखता है जो सामान्य अर्थ होता है परन्तु जब वह किसी मर्यादा या विद्या के क्षेत्र में आ जाता है तो उसके अर्थ में विशेषता आ जाया करती है। उन ऐसे शब्दों में ये अहिंसा आदि शब्द भी हैं। अतः इनकी कई-कई अर्थविशिष्टताएं हो जाती हैं, अहिंसा से लेकर अपरिग्रह तक के शब्दों की चार-चार अर्थविशिष्टताएं हो जाती हैं उन्हें पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं।

लौकिक दृष्टि में अहिंसा—

अहिंसा—न हिंसा, हिंसा का अभाव अर्थात् हिंसा न करना, घात या प्रहार न करना। यह अहिंसा का शाब्दिक सामान्य अर्थ है। शास्त्र से या अन्य साधन से घात या प्रहार करना मार देना या चोट पहुँचाना हिंसा का सामान्य या लौकिक दृष्टि से अर्थ है, यह कर्मणा–हिंसा कहलाती है ऐसा न करना कर्मणा–अहिंसा है। कर्मणा–हिंसा करने वाला सहसा राजकर्मचारी (पुलीस) द्वारा दण्डनीय होता है।

शिष्टमर्यादा में अहिंसा—

किसी के प्रति कटु कठोर कुवचन या अपशब्द बोलकर दुःख पहुँचना भी शिष्ट मर्यादा में हिंसा समझी जाती है। यह वाचा-हिंसा कही जाती है, ऐसा न करना वाचा-अहिंसा है। वाचा-हिंसा का क्षत (घाव) गहरा लगता है। उसका भरना अति कठिन और असम्भव सा हो जाता है—

शस्त्र का घाव तो कभी न कभी जाता है भरा।
पर वाणी का घाव तो सदा रहता है हरा॥

वाणी का घाव तो जीवन भर दुःख दिया करता है, महाभारत में कहा है कि—

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम्।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहते वाक्क्षतम्॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहनि।
परस्य नाममर्मसु ते पतन्ति तान्
पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः॥

(महाभा० उद्योगप० ३४।७०,८०)

अर्थात् वाणशस्त्रों से बीन्धा या कुठार से कटा वन उग जाता है पर वाणी का गहरा घाव नहीं भरता हैं, वाणी के वाण मुख से निकलते हैं जिन से आहत जन दिन रात सोच करता है क्योंकि वे दूसरे के मर्मस्थलों में घुस जाते हैं अतः शिष्टजन वाणी का वाण न छोड़े।

कर्मणा–हिंसा (शस्त्रहिंसा) करने वाला तो सहसा पुलीस द्वारा दण्डभागी बन जाता है परन्तु वाचा–हिंसा में पुलीसद्वारा नहीं अपितु वादी द्वारा मानहानि आदि अभियोग चलाने पर दण्डनीय ठहरता है।

अध्यात्मविद्या में अहिंसा—

जब कोई मनुष्य किसी पर शस्त्रप्रहार नहीं करता है और न वाणी से कटुशब्द कह रहा है किन्तु मन में दूसरे पर प्रहार करने का विचार रखता है तो वह मनुष्य लौकिक दृष्टि से और शिष्टमर्यादा में तो अपराधी नहीं है परन्तु अध्यात्मविद्या में वह अपराधी है, अध्यात्मविद्या में "अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः" (योगदर्शन २।३० व्यासः) अर्थात् सब प्रकार से सर्वदा सर्वप्राणियों के प्रति द्रोह—वैरभाव न रखना अहिंसा, मन में द्रोह वैर रखना हिंसा है यह मनसा–हिंसा हुई यद्यपि दूसरे को दुःख इससे नहीं होता परन्तु अहित चिन्तना करने वाला दोषी बन जाता है। ऐसा न करना मनसा–अहिंसा है। इससे भी उत्कृष्ट स्वरूप अहिंसा का देखें वैदिक अध्यात्म में।

वैदिक अध्यात्म में अहिंसा—

दृते दृँह मा मित्रस्य मा चक्षुषा
सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥

(यजु० ३६।१८)

अर्थः—(दृते मा दृंह) हे आदरणीय एवं आदर करने वाले परमात्मदेव तू मुझे आदर में–स्नेह में दृढ़ कर (सर्वाणि भूतानि मित्रस्य चक्षुषा मा समीक्षन्ताम्) समस्त प्राणी मित्र की दृष्टि से मुझे देखें। जब कि (अहं मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे) मैं मित्र की दृष्टि से समस्त प्राणियों को देखता हूं। पुनः (मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे) हम परस्पर मित्र की दृष्टि से देख सकें।

अहिंसा है हिंसा का अभाव परन्तु मित्रदृष्टि है हिंसा का अभाव करके स्नेह का भाव लाना। प्रथम पक्ष में हिंसा की निवृत्ति और दूसरे पक्ष में स्नेह की प्रवृत्ति है जो कि आत्मत्व-भावना रूप (अपनेपन की भावना रूप) वैदिक अहिंसा है। यह कर्म वाणी और मन से भी आगे बढ़ी हुई आत्मा में वर्तमान है। इसे आत्मना–अहिंसा (आत्मीयता) कह सकते हैं। ऐसा न करना आत्मना–हिंसा हुई।

सम्पत्ति से समृद्ध या स्वास्थ्य से समृद्ध या परिवार से समृद्ध जनों को देखकर ईर्ष्या होने लगती है। ईर्ष्या से हिंसा करता है पर उनमें मित्रदृष्टि रखने से वह ईर्ष्या दोष नहीं आता इसी प्रकार धन से असमृद्ध अर्थात् दरिद्र, स्वास्थ्य से असमृद्ध अर्थात् रोगी या निर्बल, परिवार से असमृद्ध अर्थात् निःसहाय को देखकर उसके तिरस्कार अनादर की भावना हो जाती है जो पुनः हिंसा में परिणत होकर उसे सताने में प्रवृत्त हो जाता है। ईर्ष्या और तिरस्कार आत्मना–हिंसा है। पर मित्रदृष्टि रखने

से उक्त ईर्ष्या और तिरस्कार की भावना नहीं होती। अपितु आत्मना-अहिंसारूप (आत्मीयतारूप) मित्रदृष्टि ही बनी रहती है। यह ऐसी मित्रदृष्टिरूप वैदिक-अहिंसा यदि लोगों के जीवन में आजावे तो मानवता का स्तर ऊंचा उठ जावे और संसार के समस्त संघर्ष समाप्त हो जावें तथा उक्त मन्त्रानुसार जिस मनुष्य के अन्दर मित्रदृष्टि की भावना परिपक्व हो जावे तो उसके प्रति अन्य प्राणी भी मित्रदृष्टि से देखेगा वैरदृष्टि से नहीं ×। मित्रदृष्टि या स्नेह की भावना को प्रकट करने के साधन हाथ वाणी और नेत्र हैं। बालक के मस्तक में पीड़ा है वह चाहता है मस्तक दबाया जावे परन्तु यदि किसी ऐसे मनुष्य से दबाने को कहा जावे जिस में उस बालक के लिए स्नेह न हो तो वह मस्तक तो दबायगा पर भार समझ कर, हाथ कर्कश एवं भाररूप में मस्तक पर रख कठोरता से दबाता है पीड़ा दूर होने के स्थान में उलटी बढ़ जाती है किन्तु जब स्नेह से प्रपूर्ण माता बालक के मस्तक पर स्नेहमय हाथ कोमल रूप में फेरती है तो पीड़ा उत्तरोत्तर शान्त हो जाती है और बालक को सुख की नींद आ जाती है। स्नेहरहित वाणी रोगी को और रोगी बना देती है परन्तु स्नेहभरी वाणी रोगी के लिये अमृत बन जाती है,

---

× "मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे" पुनः हम सब प्राणी परस्पर मित्र की दृष्टि से देख सकें "अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" (योगदर्शन २ । ३५)

जब रोगी की माता या स्त्री या बहिन या पुत्री पास बैठकर स्नेह से देखती है रोगी अपने रोग को भूल जाता है और अनुभव करता है कि रोग कुछ दूर हो गया।

कुत्ते की ओर स्नेह से देखो तो वह भी स्नेह से देखने लगता है। उसे स्नेह से बुलाओ तो पास आ जाता है। स्नेह का हाथ उसके ऊपर फेरो तो पैरों में लेट जाता है। हिंसक प्राणियों के अन्दर भी मित्रदृष्टि का प्रभाव पड़ता है इसके परीक्षण हमने लाहौर, जयपुर, बड़ौदा के जीवालयों (चिड़ियाघरों) में सिंहों पर करे, सिंह के पिंजरे में जबकि वह बांई ओर जा रहा हो, हमने दांई ओर से उसके पसवाड़े पर हाथ फेरा और जब वह दांई ओर जा रहा हो तो बांई ओर से हाथ फेरा, पुनः उसी प्रकार बांई ओर से दांई ओर को तथा दांई ओर से बांई ओर को पीठ पर हाथ फेरा। अब सिंह ने समझ लिया कि यह हाथ स्नेह का है। पश्चात् उसके सिर पर कानों पर हाथ फेरा और फिर मुख पर भी हाथ फेर दिया। पिंजरे के पास खड़े हुए अन्य व्यक्तियों की ओर वह गर्ज कर जाता तो हमारी ओर शान्त रूप से आता था। ऐसे ही अन्य विषधारी जन्तुओं पर भी परीक्षण किए जिन्हें लिखना नहीं चाहते। हाथ से आन्तरिक स्नेह का प्रभाव निकट वाले पर होता है जिसे हाथ स्पर्श कर सके। वाणी से कुछ दूर वाले पर प्रभाव पड़ता है जहां तक ध्वनि ठीक पहुंच सके उस से भी अधिक दृष्टि का प्रभाव पड़ता है। नेत्रदृष्टि से ही आन्तरिक स्नेह का प्रभाव प्राणी मात्र पर

पड़ता हैं जैसा कि वेद ने कहा है । "मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।"

अब हम प्राणीघात द्वारा मांस भोजन करने वालों से कहना चाहते हैं वह यह कि—

जीवितं यः स्वयञ्चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत् ।
यद्-यद् आत्मनि चेच्छेत् तत्तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥

जो मनुष्य अपने आप जीना चाहता है वह दूसरे को कैसे मार सकता है, जो-जो अपने लिये मनुष्य चाहता है उस-उस को दूसरे के लिये भी सोचना चाहिए ।

अब हम उन प्राणिघातकों से पूछना चाहते हैं जो प्राणियों को मारना धर्म मानते हैं वह यह कि बकरे आदि प्राणी में जीते रहने की इच्छा है कि नहीं ? उत्तर में कहना होगा कि हाँ है । तब वह जीते रहने की उनकी इच्छा ईश्वरीय प्रेरणा या व्यवस्था से है कि नहीं ? ईश्वरीय प्रेरणा या व्यवस्था से है यह भी कहना ही होगा तब उनको मार डालना ईश्वरीय प्रेरणा या व्यवस्था के विपरीत होने से पाप हुआ ।

२—प्रत्येक प्राणी की जरा अवस्था (बुढ़ापा) ईश्वरीय व्यवस्था से है कि नहीं ? तो कहना पड़ेगा कि हाँ । जबकि वह ईश्वरीय व्यवस्था से है, तब किसी प्राणी को उसकी जरा अवस्था (बुढ़ापे) से पूर्व मार डालना ईश्वरीय व्यवस्था के विपरीत होने से पाप हुआ ।

वैदिक आदर्श तो जीवों के प्रति व्यवहार का है कि—

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ ।
शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते नो मुञ्चन्त्वहंसः ॥

(अथर्व० ४ । २७ । ३)

दूध देने वाले पशुओं का दूध ओषधियों का रस और घोड़ों का वेगबल हे विद्वानों ! जो तुम सेवन करते हो वे आप लोग हमारे लिये बलवान् होते हुए सुखकारक और शान्तिदायक बनो और हमें दोषों से छुड़ाओ ।

यहां मन्त्र में मांस खाना नहीं बतलाया है ।

तथा—

"स्वस्ति मात्र उत पित्रे नोऽस्तु ।
स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ॥

(अथर्व० १ । ३१ । ४)

(स्वस्ति मात्रे-उत पित्रे नोऽस्तु) माता के निमित्त कल्याण हो पिता के लिये कल्याण हो 'यह तो अतिनिकट सम्बन्धी की दृष्टि से हुआ' तथा (स्वस्ति पुरुषेभ्यः) मनुष्य मात्र के लिये कल्याण हो (स्वस्ति गोभ्यः) गौ आदि के लिये कल्याण हो 'अतिनिकट पशुओं के प्रति था' पुनः (जगते) जङ्गम प्राणी-मात्र के लिये कल्याण दृष्टि हो । यह है प्राणियों के प्रति स्नेह-भाव के आचरण करने का वैदिक आदर्श ।

जिसमें जितना अधिक स्नेहभाव प्राणी-मात्र के प्रति होगा वह उतना ही अधिक अन्तर्यामी परमात्मदेव के प्रेम और

समागम का पात्र बन सकेगा। उक्त स्नेह के कारण ही वह अपने को परमात्मा से और परमात्मा को अपने साथ संयुक्त कर सकेगा। स्नेह से ही तो दीपक में ज्योति आती है जिस मनुष्य में स्नेहभाव होगा उसी में उस प्रकाशस्वरूप परमात्मा का प्रकाश आयगा।

सत्य

अहिंसा के पश्चात् क्रमप्राप्त सत्य का स्वरूप प्रदर्शित करते हैं।

लौकिक दृष्टि में—

जैसा आंखों से देखा वैसा वाणी से कथन करना सत्य है।

शिष्टमर्यादा में—

नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा श्रोत्र इन्द्रियों से साक्षात् किया हुआ विषय ज्यों का त्यों कथन करना तथा लेख द्वारा प्रतिपादन करना सत्य कहलाता है।

योग-दर्शन के अध्यात्म में—

यथा दृष्टं यथाऽनुमितं तथैव वाङ् मनश्च।

(योग दर्शन। साधन० २।३० व्यासः)

अर्थात् जैसा इन्द्रियों से साक्षात् किया और मन से अनुमान किया या विद्या द्वारा जाना वैसा प्रकट करना तथा मानना। लौकिक दृष्टि में सत्य का क्षेत्र नेत्र और वाणी तक था, शिष्टमर्यादा या विद्वानों की शैली में नेत्र से आगे बढ़ा और समस्त इन्द्रियों के अनुभव में आकर वाणी और लेख द्वारा प्रकट हुआ, दार्शनिक अध्यात्म में उसका क्षेत्र और आगे बढ़ा वह इन्द्रियों के प्रत्यक्ष तक ही न रहा किन्तु अनुमान और मन के ज्ञान तक पहुँच बाहिर कथन करने तथा मन में मानने

तक पहुँचा। परन्तु वैदिक अध्यात्म में सत्य का स्वरूप उस से भी उत्कृष्ट और परिमार्जित रूप में है।

वैदिक अध्यात्म में—

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमो अवति हन्त्यासत्॥

(ऋ० ७।१०४।१२)

अर्थ—(चिकितुषे जनाय सुविज्ञानम्) समझदार मनुष्य के लिये यह भली भाँति विदित है कि (सत्-च-असत्-च वचसी) सत्य वचन और असत्य वचन (पस्पृधाते) परस्पर स्पर्द्धा करते हैं—एक दूसरे से टक्कर लेते हैं—एक दूसरे के विरुद्ध पड़ते हैं (तयोः-यत्-सत्यम्) परन्तु उन में वह सत्य है (यतरत्-ऋजीयः) जो दोनों में ऋजु है—सरल है (तत्-इत् सोमः-अवति) उसी को सोम-सौम्यस्वभाववाला सुजन अपने पास रखता है—अपनाता है (असत्-आहन्ति) असत्य को नष्ट करता है।

यहां यह आया कि सरल अतिसरल सत्य है। असरल-कुटिल असत्य है। असत्य की स्थापना के लिये अनेक बनावटी युक्तियों-बहानों की शरण लेनी पड़ती है परन्तु सत्य के प्रकट करने में कुछ भी यत्न करना नहीं होता है, जैसा का तैसा रख दिया जाता है। विद्वान् हो अविद्वान् हो वृद्ध हो या शिशु (छोटा सा बच्चा) भी क्यों न हो प्रत्येक सुगमता से सत्य बोल सकता है। निर्दोष छोटे बच्चे के मुख से अनायास ही सत्य निकलता है। जैसे—कोई मनुष्य किसी के द्वार पर बाहिर पुकारता

है 'बाबू जी ! बाबू जी अन्दर बैठे हैं उससे मिलना नहीं चाहते अपने छोटे बच्चे को कह देते हैं कि बेटा जाओ बोलो बाबू जी घर में नहीं हैं। बच्चा आकर कहता है बाबूजी कहते हैं बाबू जी घर में नहीं हैं। बच्चे ने जैसे का तैसा सरल रूप में रख दिया। इस प्रकार सत्य का मार्ग सरलता का—निर्दोषता का है, अत एव सरल निष्कपट निर्दोष को सौम्य कहते हैं कारण कि वेद के अनुसार जो सरल रूप सत्य को अपनाता है वह सोम है।

लौकिक दृष्टि के सत्य भाषण में अन्य विशेषण लगाने पड़ते हैं कि सत्य बोलो प्रिय बोलो* सत्य बोलो मृदु प्रिय हितकर बोलो† और असम्बद्ध प्रलाप कठोर न बोलो न अतिनिन्दा करो‡। परन्तु वेदप्रदर्शित सत्य के स्वरूप में इन सब के कथन करने की आवश्यकता नहीं है, वहां निर्दोष और समस्त गुणों से परिपूर्ण वचन ही सत्य है जो कि ऋजुरूप–सरल रूप है कारण कि अप्रियता, अहितभावना, कटुता, असम्बद्ध प्रलाप, कठोरता, अतिनिन्दा भावना के आने का उसमें प्रसङ्ग ही नहीं। असरल में ही इनका प्रसव होता है। सरल में प्रियता मधुरता, हितभावना, यथार्थकथनता आदि गुण वर्तमान होते हैं। ऐसे वेदोक्त सरलरूप सत्य के आचरण से मनुष्य सौम्य

---

* "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्" (मनु०)

† "सत्यं मृदु प्रियं वाक्यं धीरो हितकरं वदेत्"

‡ "असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा
चत्वारि वाचा रजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत ।।"

कहलाता है। सोमरूप ही बनकर मनुष्य अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है, गाड़ी का चक्र सरल हो, कोणों से रहित हो मार्ग पर चल सकता है या सरल मार्ग (टीले खड्डे सर्पाकारता से रहित मार्ग) के अवलम्बन से ही यात्रा के अन्तिम स्थान को निर्विघ्न प्राप्त किया जा सकता है। असरल–असत्य संघर्ष का कारण बनता है, सरल–सत्य के सम्मुख सत्ता भी झुक जाती है। सरल–सत्य का मान सज्जन करते हैं। जाबाल से गुरु के सम्मुख माता द्वारा बतलाए सत्यवृत्त को सुनकर उसे अपनाया ही था। न्यायाधीश सत्य कथन करने पर दण्ड कम देता है, क्षमा तक कर देता है। पाप करके सत्य न बोलना पाप पर पाप करना है। पर भूल से किए पाप को सत्य कह देना पाप के परिणाम को हलका करना है। अपितु उससे छुटकारा पाना है। योगदर्शन में व्यास ने लिखा है यदि कोई धर्मोपदेश सुनकर आंखों में आंसु ले आवे तो समझो उसके कल्याण के दिवस निकट आ गए। घटना है—करनाल में पं० गणपति शर्मा जी उपदेश दे रहे थे, एक प्रसिद्ध डाकू डाका डालने आया, डाका डालने में समय शेष था वह उपदेश में आ बैठा चलो तबतक समय यहां ही निकालें तो उसपर उपदेश का प्रभाव पड़ा। वह उपदेश के पश्चात् बैठा रहा और पण्डित जी से पूछा कि क्या गिरा हुआ मनुष्य भी उठ सकता है। पंडित जी ने कहा हां, उस अपने पाप को सत्य ही प्रकट करदे। सो वह प्रसिद्ध डाकू थानेदार के पास जाकर कहने लगा लो जिस डाकू

को आपने पकड़ाने को पुरस्कार प्रसिद्ध किया हुआ है वह मैं हूँ मुझे कपड़ लें। यह सुनकर थानेदार ने वृत्तान्त पूछा तो उसने सब बतला दिया। तब थानेदार ने उसे छोड़ दिया कि मुझे विश्वास हो गया अब तुम डाका न मारोगे। वेदप्रदर्शित सत्य तो बहुत उत्कृष्ट है उसके सेवन से मनुष्य सोम बनकर उस सोमरूप❀ निरञ्जन जगदीश देव को प्राप्त करता है।

अन्यत्र कहा भी है:—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा (मुण्डको० ३।१।१।५)

अर्थात् सत्य से परमात्मा प्राप्त होता है। इस प्रकार उस सोमरूप से समागम, विना सोमरूप हुए नहीं हो सकता।

❀ "सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पति:" (ऋ० ५।५१।१२)

अस्तेय

वैदिक अध्यात्म प्रसङ्ग में क्रमप्राप्त अब हम अस्तेय का स्वरूप पाठकों की सेवा में प्रस्तुत कर रहे हैं।

लौकिक दृष्टि से—

अस्तेय का स्वरूप है 'अस्तेय'='न स्तेय'। स्तेय है चोरी करना और लूटना, उसके प्रतिकूल है अस्तेय। जब कोई किसी की वस्तु चुराता या लूटता हुआ देखा जाता है तो वह पुलिस-द्वारा पकड़ा जाता है और दण्डभागी बनता है।

शिष्टमर्यादा में—

किसी की वस्तु चुराने या लूटने की भावना तो नहीं होती किन्तु स्वामी की स्वीकृति के विना कोई किसी की वस्तु, लेखनी (फ़ाउन्टेन पेन) आदि उठा लेता है अपना-कार्य करके लौटा देता है, यह कृत्य लौकिक दृष्टि से तो स्तेय कर्म (चोरी) नहीं है और न ऐसा करने वाला पुलिसद्वारा दण्डनीय ठहरता है, परन्तु शिष्टमर्यादा में वह स्तेय (चोरी कर्म) समझा जाता है। जिस वस्तु पर अपना अधिकार नहीं उसे उसके स्वामी की अनुमति के विना अपने उपयोग में ले लेना उसके स्वामित्व का अस्वीकार करना—न मानना एवं अपमान करना है। सम्भव है उसका स्वामी उस वस्तु को अपने उपयोग तक ही मर्यादित रखता हो, दूसरों के उपयोग में आने देना उसे अनुकूल न हो,

तथा कदाचित् उस समय में उस वस्तु से उसे कार्य लेना हो अथवा दूसरा व्यक्ति उपयोग कर चुकने के पश्चात् उस वस्तु को स्थानान्तर में रख दे तो स्वामी को आवश्यकता के समय वह वस्तु न मिले या खोजने पर विलम्ब से मिले तो उसको हानि पहुँचे तथा कभी भूल से वस्तु उपयोग में ले लेने पर साथ भी चली जा सकती है। जो व्यक्ति स्वामी की विना स्वीकृति के वस्तु उपयोग में ले लिया करता है वह व्यक्ति सन्दिग्ध समझा जाता है, शिष्टजन उसे पास बिठाना अभीष्ट नहीं समझते। कारण कि यह सब व्यवहार शिष्टमर्यादा में स्तेयकर्म कहलाता है। प्रतिकूल इसके स्वामी को पूछ कर "क्या मैं इसे उपयोग में ले सकता हूँ ?" अनुमति प्राप्त कर उपयोग में लेता है तो यह शिष्टमर्यादा का अस्तेय है।

दार्शनिक अध्यात्म क्षेत्र में—

"स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः—पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति" (योगदर्शन २।३०। व्यासः) अर्थात् दूसरे से द्रव्यों—धन आदि का शास्त्रविरुद्ध स्वीकार करना स्तेय है चोरी है और वैसा न करना अस्तेय है, तथा दूसरे के धन में स्पृहा-लालसा रखना भी स्तेय है न रखना अस्तेय है। शास्त्र दूसरे से वस्तु को मूल्य देकर लेने का या अधिकारी हो तो अधिकाररूप में या दानरूप में लेने का आदेश देता है यह अस्तेय है इसके विपरीत लेना स्तेय है चोरी है। अपितु दूसरे के धन में स्पृहा लालसा रखना—मन में लेने की इच्छा रखना

भी स्तेय है चोरी है और दूसरे के धन में स्पृहा लालसा न रखना अध्यात्मक्षेत्र का अस्तेय है।

वैदिक अध्यात्म में—

अस्तेय का और भी उत्कृष्ट स्वरूप दर्शाया गया है—

त्यक्तेन भुञ्जीथाः (यजु०४०।१)

'त्यक्तेन' त्याग से—वर्जन से और तच्चित्तरहितता से अर्थात् वर्जन = प्रतिदान से और तच्चित्तरहितता = निर्लेप भाव से भोग कर। ऋषि दयानन्द ने भी 'त्यक्तेन वर्जितेन तच्चित्त-रहितेन च' ऐसा ही अर्थ किया है।

१—वर्जन अर्थात् प्रतिदान से भोग करना। कहीं से या किसी से दूध आदि भोग वस्तु सेवन करना है तो प्रतिदान करना चाहिये। ब्राह्मण हो तो विद्या शिक्षा उपदेश का, क्षत्रिय हो तो रक्षा में भुजबल का, वैश्य हो तो धन का, शूद्र हो तो सेवा का प्रतिदान करना होगा, यह अस्तेय है अन्यथा स्तेय है। तथा—

'इहैव सन्तः प्रतिदद्म एनज्जीवेभ्यो निहराम एनत् ।
अपमित्य धान्यं यज्जघासाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि ॥

(अथर्व० ६।११७।२)

अर्थ—(इह–एव सन्तः–एनत्–प्रतिदद्मः) हम यहां ही रहते हुए इस ऋण को दें (जीवेभ्यः - एनत्-निहरामः) जिनसे लिया है उन जीवितों के प्रति इस ऋण को चुकायें (यत्-धान्यम्-अपमित्य-अहं जघास) जिस अन्न को भविष्य

में बदले से चुकाना निश्चित करके ऋणरूप में मैंने खाया (अग्ने तत्-इदम्-अनृणः-भवामि) हे सर्वज्ञ परमात्मन्! उससे मैं अनृण होऊं।

किसी से ऋण लेकर न देना वैदिक दृष्टि से स्तेय है, जिनसे ऋण लिया उनको जीते हुए लौटाना स्तेय से अपने को बचाना और अस्तेय में रखना है। स्वयं जीते को लौटना उनके पश्चात उनकी सन्तानों को लौटाना अथवा स्वयं लेने वाले द्वारा न लौटाया जाकर सन्तानों द्वारा लौटाया जाना तो लोकव्यवहार मात्र है वास्तविक प्रतिनिवृत्ति नहीं अपितु स्तेय ही है।

२—तच्चित्तरहितता तो योगदर्शनप्रदर्शित अध्यात्म के अस्तेय से बहुत उत्कृष्ट है। योगदर्शन का उत्कृष्ट अस्तेय है अस्पृहा लालसा न करना। स्पृहा या लालसा हुआ करती है परधन में, किन्तु अपने धन में राग हुआ करता है तब वैदिक अध्यात्म में अस्तेय होगा अपने धन में राग भी न रखना, अपने धन में राग का रखना वैदिक अध्यात्म में स्तेय है। अपने धन में राग रखने उसमें मनके बन्धन से मनुष्य में कृपणता (कञ्जूसी) और अदातृता (दान न देने की भावना) आ जाती हैं। कृपण और अदाता को वेद में नीच कहा गया है—

> यश्च पणिरभुजिष्ठो यश्च रेवाँ अदाशुरिः।
> धीराणां शश्वतामह तदपागिति शुश्रुम॥

(अथर्व० २०।१२८।४)

अर्थात् जो व्यापारी अपने धन का भोग न करने वाला कृपण (कञ्जूस) हो और जो धनवान् अदाता—दान न करने वाला हो वह धीर गम्भीर सज्जनों में नीच प्रसिद्ध होता है।

इस प्रकार कृपणता और अदातृता पाप है जो कि अपने धन में राग रखने से उत्पन्न होते हैं। राग है वैदिक अध्यात्म में स्तेय कर्म। तब उस निष्पाप से पापवान् होकर समागम कैसे कर सकता है ? परमात्मसङ्ग के लिये वैदिक अध्यात्म के अस्तेय—त्याग—तच्चित्तरहितता—अपने धन में रागरहितता का भी सेवन करना आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य

वैदिक अध्यात्मप्रसङ्ग में 'अस्तेय' से आगे 'ब्रह्मचर्य' का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। अहिंसा आदि पूर्वप्रदर्शित योगव्रतों के समान ब्रह्मचर्य के भी चार क्षेत्र हैं।

(१) लौकिक दृष्टि—

लौकिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य का स्थान गृहस्थाश्रम में होता है। पति का पत्नीव्रत और पत्नी का पतिव्रत धर्मपालन करना गृहस्थाश्रम का ब्रह्मचर्य अर्थात् परपुरुषगमन और परस्त्रीगमन न करना इस ब्रह्मचर्य का नाम व्यभिचारत्याग है। इस ब्रह्मचर्य व्रत का उल्लंघन प्रायः पुरुषों की ओर से होता है अतएव शास्त्रों में पुरुषों को चेतावनी दी जाती है—

बधो बन्धो धनभ्रंशस्तापः शोकः कुलक्षयः।
आयासः कलहो मृत्युर्लभ्यन्ते पारदारिकैः॥

अर्थात् परस्त्रीगमन करने वाले पुरुष बध, बन्धन-दण्ड, धननाश, संकट, शोक, कुलनाश श्रान्तता (अतिथकान), कलह, मृत्यु को प्राप्त करते हैं।

तथा—

परस्त्रीगमन ही नहीं किन्तु धन से पण्यास्त्री वेश्यागमन करने का भी निषेध है।

वेश्याऽसौ मदनज्वाला रूपेन्धनसमेधिता ।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च ॥
तपो व्रतं यशो विद्या कुलीनत्वं दमो वयः ।
छिद्यन्ते वेश्यया सद्यः कुठारेण लता यथा ॥

वेश्या कामज्वाला है रूप-इन्धन से प्रज्वलित है, जिसके अन्दर कामी जन यौवन और धन को स्वाहा करते हैं तथा जैसे कुठार से लता कट कर नष्ट हो जाती है एवं वेश्याद्वारा मनुष्य के तप, व्रत, यश, विद्या, कुलीनता, संयम, आयु नष्ट हो जाते हैं।

शरीर के अन्दर मानवबीजशक्ति सातवीं धातु है, मनुष्य जो आहार करता है उसका रस, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और पुनः मज्जा से शुक्र अन्तिम धातु बनती है ॐ। सेर भर भोजन के परिपाक हो जाने पर रत्ति के शतांश से भी न्यून ही सातवीं शुक्र धातु बनती है उसे उद्देश्यरहित स्थान में प्रक्षिप्त करना ऐसा ही है जैसे बड़ी दौड़ धूप कर सैकड़ों उद्यानों (बगीचों) से फूल एकत्र कर शकट-भर पुष्पराशि (फूलों के ढेर) का छोटी सी शीशी-मात्र सुगन्ध-सार (इतर) निकाल कहीं बाहर गन्धी नाली में बिखेर देना।

वेद तो गृहस्थाश्रम के ब्रह्मचर्य का और भी उत्कृष्ट आदर्श उपस्थित करता है—

ॐ रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते ।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जातः शुक्रसम्भवः ॥ (सुश्रुत)

अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्।
(अ० ११।५।१६)

वर पत्नी को कहता है कि मैं तुझे मन से वरण करती हुई को अपने शरीर में ऋतु पर गृहस्थधर्म के लिये याचना करती हुई को देखता हूँ। अर्थात् गृहस्थाश्रम में भी लम्पट होकर भोग विलास में नहीं पड़ना चाहिये किन्तु ऋतुचारी रहना चाहिए। मनु ने भी ऋतुचारी गृहस्थ को ब्रह्मचारी कहा है।

(२) शिष्टमर्यादा—

शिष्टमर्यादा के ब्रह्मचर्य का अवसर या समय है मानव जीवन की प्रथमावस्था या कुमारावस्था जो कि २४ वष पर्यन्त है। इसे शास्त्र तथा विद्वानों ने ब्रह्मचर्याश्रम नाम दिया है। इस अवस्था में या इस ब्रह्मचर्य में सर्वतोभाव से स्त्रीसम्पर्क का त्याग अथवा स्त्रीसम्पर्क से अलग रहना होता है इस ब्रह्मचर्य को मैथुनत्याग कहते हैं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥

(सुश्रुत)

अर्थात् स्त्रियों का दर्शन, उनकी चर्चा उनका स्पर्श, उनसे क्रीड़ा करना, उनका स्मरण, उनके सम्बन्ध में सोचना, उनसे गुप्त मन्त्रणा करना और सङ्ग ये आठ प्रकार के मैथुन हैं इनके

विपरीत रहना ही आठ प्रकार का ब्रह्मचर्य सेवन करने योग्य है। यह ब्रह्मचर्य पूर्वकथित लौकिक दृष्टि के ब्रह्मचर्य से ऊंचा है।

(३) योग दर्शन के अध्यात्म में—

गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः। (योग० २। ३० व्यासः)

किसी भी प्रकार से अथवा किसी भी अवस्था में गुप्त इन्द्रिय में विकार न आने देना क्या जागृत में क्या स्वप्न में। इस ब्रह्मचर्य में स्त्रियों के सम्पर्क से दूर रहना ही नहीं किन्तु ऐसे आहार व्यवहार से भी दूर रहना जो गुप्त-इन्द्रिय में विकार का कारण बनता हो। अतः यह अध्यात्म शास्त्र का ब्रह्मचर्य पूर्वकथित आश्रम ब्रह्मचर्य से भी ऊंचा है। परन्तु इस से भी उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य है वैदिक अध्यात्म का।

(४) वैदिक अध्यात्म में—

योग दर्शन रूप अध्यात्म के ब्रह्मचर्य का क्षेत्र गुप्त इन्द्रिय और ब्रह्मचर्य गुप्त इन्द्रिय का संयम था परन्तु वैदिक अध्यात्म के ब्रह्मचर्य का उस से भी आगे क्षेत्र है मन और ब्रह्मचर्य है मन का संयम। मन में किसी भी अवस्था में किसी भी प्रकार से विकार न आने देना, अर्थात् मन में कामभाव के प्रति अनिच्छा अथवा कामवासना की अनुत्पत्ति वैदिक अध्यात्म का ब्रह्मचर्य है। वेद में कहा है—

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय।

(अथर्व० ६।१३३।३)

मैं मृत्यु का ब्रह्मचारी हूँ मैंने ब्रह्मचर्यरूप सार पदार्थ को

गृहस्थ या गृहिणी रूप मानव व्यक्ति के समर्पण करने को धारण नहीं किया है इस अपने शरीर से उस सार विन्दु को निकलने न दूंगा यदि अन्ततः शरीर से निकालूंगा तो 'यमाय भूतात पुरुषं निर्याचन्'—मृत्यु के लिये भौतिक शरीर से आत्मा को निकालूंगा। उस अपने आत्मा को शरीर से—शरीरबन्धन से सदा के लिए पृथक् करने को मैं मृत्यु का ब्रह्मचारी हूँ, मैं अपनी इस सार पदार्थ रूप पौरुषशक्ति द्वारा मृत्यु से संघर्ष करूंगा उसे पछाड़ कर अमर बनूंगा।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। (अथर्व० ११।५।१९)

ब्रह्मचर्य रूप तप से देवों ने मृत्यु को परास्त किया। मृत्यु को दूर हटाने के लिए यावज्जीवन अथवा मृत्यु तक ब्रह्मचर्य सेवन कर मनुष्य का देव बनना एवं अमरत्व को पाना या अपने को अमर बनाना मानवजीवन का सर्वोत्कृष्ट ध्येय है। ऐसा दृढ़प्रतिज्ञ या दृढ़-निश्चयी होना कि मरण तक भी ब्रह्मचर्य व्रत से न गिरना देवत्व की ओर ले जाने वाले उस स्नेह विन्दु को अपने शरीर से न निकलने देना।

ब्रह्मचर्यस्नेह से देव बनना ज्योतिष्मान् बनना है। स्नेह से ही ज्योति दीपक में आती है, ज्योति को धारण कर दीपक भी तो चन्द्रतारा सा चमकता है। ज्योति की गति ज्योति की ओर होती है ब्रह्मचर्य से देव बन कर ही तो परम देव की ओर गति हो सकेगी उस से समागम होगा विना ब्रह्मचर्य के–विना देव बने उससे समागम होना सम्भव नहीं। अतः उस अखण्ड ज्योति-

मय देव से समागम करने के लिए ब्रह्मचर्यस्नेह का सञ्चय करने में यत्न एवं साधन को उठा न छोड़े।

ब्रह्मचर्यव्रत के साधन हैं—

१—आहार का स्वाद के लिये नहीं अपितु स्वास्थ्य के उद्देश्य से सेवन करना।

२—"न रुच्यर्थं किञ्चन धारयीत" (मानव गृह्य० १।१।१०)

मन को प्रसन्न करने (फैशन) के लिये वस्त्र आदि धारण न करे।

मृदुः। शान्तः। दान्तः। ह्रीमान्। दृढधृतिः। अक्रोधनः। अनसूयः।

(आपस्तम्बीय १७–२४)

मृदुस्वभाव, शान्त, जितेन्द्रिय, लज्जावान्, दृढधारणावाला, क्रोधरहित, अनिन्दक रहना ब्रह्मचर्यव्रती को अत्यावश्यक है।

अपरिग्रह

क्रमप्राप्त वैदिक अध्यात्मप्रसंग में 'अपरिग्रह' प्रस्तुत करते हैं। अहिंसा आदि की भांति इस के भी चार भेद हैं।

लौकिक दृष्टि में—

अपरिग्रह–न परिग्रह। 'परितः सर्वतो ग्रहणं परिग्रह' = सब ओर से या सब प्रकार से ग्रहण करना परिग्रह है उतने ही समय में उतनी ही मात्रा में वस्तु को स्वीकार करना ग्रहण करना है। यथा–कोई महानुभाव कहते हैं कि महाराज भोजन ग्रहण करें, तो उसी समय के लिये मात्रानुसार भोजन लेना ग्रहण हुआ और कई दिनों मासों या वर्षों के लिये लेना या एकत्र करना संग्रह कहलाता है। यावज्जीवन (जीवनान्त तक) उचितरूप से संग्रह करना तो कोई दोष नहीं है किन्तु इतना संग्रह कि पुत्र पौत्रों प्रपौत्रों तक चले वह तो परिग्रह है अतः दोषयुक्त है। अपने पास इतना तक अन्न जो पीढ़ियों तक चले और दूसरों को एक समय भी पेटभर न मिले या अपने पास पीढ़ियों तक खाने को अन्न रखे रहें और दूसरों को भूखा मरते देखा करें यह पाप नहीं तो क्या है ? अपने आप थान के थान और बीस-बीस जोड़े वस्त्र एकत्र कर रखें और दूसरों को नंगे एवं ठिठुरते हुए देखते रहें। अपने आप इतनी भूमि दबाए रखें जिसमें एक बार का उत्पन्न अन्न वर्षों तक न खा सकें और दूसरे के पास इतनी भी

भूमि न हो कि मास भर का अन्न उपजा सके। ऐसा परपीडक अति संग्रहरूप परिग्रह दोष है पाप है ऐसा परिग्रह चोरों लुटेरों और आधुनिक तथाकथित साम्यवादियों का जन्मदाता बनता है। शास्त्रों में इस परिग्रह को न बढ़ने देने के लिये कहा है—

राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ॥
(महाभारत वनपर्व अ० २।३६)

धन वाले को राजा से, जल से, अग्नि से, चोर से, स्वजन से भी भय सदा ऐसे रहता है जैसे प्राणी को मृत्यु से रहता है। अर्थात् कहीं राजकर्मचारी अधिक कर (टैक्स) न लगादें या धन पर छापा न मारें, कही जल में डूब न जावे या जल से सम्पत्ति नष्ट न हो जावे, कहीं चोर डाकू न ले जावे अथवा अपना मनुष्य ही धोखा न दे जावे, इस प्रकार भयभीत बना रहता है। यह भी देखा जाता है कि ऐसे परिग्रही (धनी) धन के कारण अपमानित होते हैं प्राणों तक को खो बैठते हैं। अस्तु। यह तो हुआ लौकिक दृष्टि से अपरिग्रह का प्रदर्शन।

शिष्ट मर्यादा में अपरिग्रह—

शिष्टमर्यादा में तो अर्थ के उपार्जन आदि को भी अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता—

अर्थस्योपार्जने दुःखमर्जितस्यापि रक्षणे।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम् ॥

धन के उपार्जन में दुःख उपार्जित के रक्षण में दुःख उसके नाश में दुःख व्यय-उपयोग ले लेने पर भी दुःख धन लोभियों को होता ही है, इस प्रकार दुःख के कारण रूप धन को धिक्कार है। अर्थात् जीवन को धन संग्रह के पीछे खोदेना अच्छा नहीं, धनसंग्रह कोई जीवन का उद्देश्य नहीं है। ऐसी भावना रखना शिष्टों एवं विद्वानों का अपरिग्रह है।

अध्यात्म शास्त्र में अपरिग्रह—

विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनाद-स्वीकरणमपरिग्रहः ॥ (योग २। ३० व्यास)

अध्यात्म शास्त्र का अपरिग्रह केवल धन संग्रह के दोष दर्शन तक ही नहीं रहा अपितु समस्त विषयों के अर्जन, रक्षण क्षय (नाश), सङ्ग (उपयोग), हिंसा (संग्रह में परपीडा) दोषों के दर्शन से स्वीकार न करना अपरिग्रह है, इसी के अनुरूप अन्यत्र कहा है—

विषस्य विषयाणां च दृश्यते महदन्तरम् ।
उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि ॥

अर्थात् विष और विषय में महान् भेद है विष तो खाया पिया हुआ ही मारता है परन्तु विषय तो स्मरण से भी मार देते हैं।

तथा—

पतङ्गमातङ्गकुरङ्गभृङ्गमीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च ।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥

पतङ्ग (उड़ने वाला कीट), हाथी, हरिण, भ्रमर, मछली ये पांच मारे जाते हैं अलग अलग पांच विषयों के कारण—रूपव्यसनवश पतङ्ग, स्पर्शव्यसनवश हाथी, शब्दव्यसनवश हरिण, गन्धव्यसनवश भ्रमर, रसव्यसनवश मछली। परन्तु जो एक ही मनुष्य व्यक्ति प्रमादी बन इन पांच व्यसनों को सेवन करता हो वह क्यों न मारा जावे

इस प्रकार गन्ध आदि विषयव्यसनों से बचना, इनमें न फंसना अध्यात्म शास्त्र में अपरिग्रह हुआ। वैदिक अध्यात्म का अपरिग्रह इससे भी ऊंचा है।

वैदिक अध्यात्म में अपरिग्रह—

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्। (यजु ४०।१)

"मत इच्छा कर—भोग की ओर वासना न रख, सोच भोगधन किसका है ? अर्थात् किसी का नहीं।"

इस पृथ्वी पर बड़े बड़े राजे महाराजे और सम्राट् आए इस पृथ्वी और इसके धन भोगों को अपनाते अपनाते जीवन विता गए पर यह और इसके धन भोग न किसी के हुए न होंगे। कहा जाता है सम्राट् सिकन्दर ने अपना सारा जीवन धन-सम्मत्ति के संग्रह में लगाया पर जब अन्त समय आया तो वह पछताया रोया कि 'हे सिकन्दर ! तूने जिस धन सम्पत्ति के संग्रह करने में अपना सारा जीवन गमाया या मिटाया आज उसमें से एक पाई भी तेरे साथ नहीं जा रही है, हा ! अब

क्या हो सकता है पछताने और रोने से। अच्छा तेरा जीवन तो इसके पीछे नष्ट हुआ सो हुआ पर दूसरों को तो शिक्षा मिले, कुछ ऐसा कर जा।' अतः उसने आदेश दिया कि जब मेरे शव (लाश) को दबाने के लिए ले जाया जावे तो कफन से दोनों हाथ बाहिर हथेली दिखलाते हुए निकाल कर ले जावें जिससे लोग समझ जावें कि यह वही सिकन्दर है जिसने सारा जीवन धनसम्पत्ति के संग्रह में लगाया गमाया पर अन्त में उसमें से एक पाई भी इसके साथ नहीं जा रही है।

छोड़ दुर्ग रण कोष सभी कुछ रिक्त हस्त है जाता।
चला सिकन्दर कफन से बाहिर दोनों हस्त दिखाता॥

इसलिये—

"मा गृधः" भोग एवं भोगसाधन धन आदि में इच्छा तक न करना या वासना तक न रखना वैदिक अध्यात्म का अपरिग्रह है।

सांसारिक भोगों-एवं भोगपदार्थों या भोगसाधनों को संग्रह न करना तो अध्यात्मशास्त्र का अपरिग्रह था परन्तु उनके प्रति इच्छा को भी स्थान न देना वासना को भी न रखना अर्थात अनात्मता से हटकर आत्मता में—केवलता में सन्तुष्ट रहना वैदिक अध्यात्म का अपरिग्रह है। वेद ने इस ओर प्रवृत्ति कराने के लिये और भी कहा है—

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः।

(अ० ९।२।१९)

कामना इच्छा या वासना प्रथम सब के सम्मुख आइ परन्तु इसे न देवों ने पूरा किया न पितरों ने न मनुष्यों ने । फिर ऐसी वस्तु के पीछे क्यों पड़ना ? इसका तो स्पर्श न करना ही अच्छा है । जिसके सङ्ग से मनुष्य सक्त (लिप्त) हो जाता है और जिसको पार भी नहीं कर सकता फिर उसमें पड़ना क्यों ? "समुद्र इव हि कामः, न हि कामस्यान्तो ऽस्ति नैव समुद्रस्य" कामना इच्छा या वासना तो समुद्र के समान है कामना इच्छा या वासना का न अन्त है और न समुद्र का । तदनुसार मनु में कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ (मनु)

कामनाओं के भोगते रहने से कामनाएं समाप्त या शान्त नहीं होतीं किन्तु वे तो अग्नि में घृत होमते रहने से अग्नि के बढ़ने के समान बढ़ती रहती हैं ।

महात्मा बुद्ध ने भी कहा है—

तृप्ति र्नास्तीन्धनैरग्ने र्नाम्भसा लवणाम्भसः ।
नापि कामैः सतृष्णस्य तस्मात् कामा न तृप्तये ॥

ईम्धनों के डालते रहने से अग्नि की तृप्ति नहीं होती और न नदनदीजलों के पड़ते रहने से समुद्र की तृप्ति होती है इसी प्रकार वासनावाले ममुष्य की कामनाओं को पूरा करते रहने से तृप्ति नहीं होती है । अतः कामनाओं वासनाओं को तो अध्या-

त्मयोगी अपने में स्थान ही न दे। कामनाएं इच्छाएं या वासनाएं तो आत्मचिन्तक को आत्मता से स्वतन्त्रता से गिराती हैं आत्मता-आत्मिक स्वतन्त्रता से ही विरक्ति आ सकती है और परमात्मदेव से समागम हो सकता है अन्यथा नहीं।

आत्मनिरीक्षण महाव्रत

वैदिक अध्यात्म प्रसङ्ग में "यम" के पांचों भाग अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, वैदिक दृष्टि से पाठकों की सेवा में प्रस्तुत कर दिए गए हैं। पातञ्जल योगरूप अध्यात्म में "यम" या उसके उक्त पांच भागोंसे आगे "नियम" या उसके पांच भाग हैं। परन्तु व्रतों के महत्त्व की दृष्टि से यम का स्थान ऊंचा अथवा मुख्यरूपेण उपादेय है, जैसा कि मनु में कहा है "यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः। यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥" (मनु०) केवल नियमों का सेवन करता हुआ यमों का सेवन न करके गिर जाता है। इस दृष्टि से "नियम" गौण होने से वैदिक अध्यात्म में वे निरूपणीय नहीं हैं अतः उन पर हम न लिखकर 'आत्मनिरीक्षणरूप महाव्रत' पर यहां लिखते हैं जो कि नियमों का प्रतिरूपक और यमों का शेष एवं विशेष व्रतरूप है। वह वेद में निम्न प्रकार प्रदर्शित किया है—

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाऽतितृण्णम्।
बृहस्पतिर्मे तद्दधातु शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥

(यजु० ३६।२)

अर्थात्—जो मेरी आँख का छिद्र अत्यन्त खुल गया या हृदय का मन का भी छिद्र अत्यन्त खुल गया उसे

सर्वज्ञ अन्तर्यामी परमात्मा बन्द करदे, वह विश्व का स्वामी जगदीश देव मेरे लिये कल्याणकारी हो। किसी पात्र में जब कोई छिद्र हो जाता है तो पात्र में से दूध आदि अभीष्ट वस्तु तो बाहिर निकल जाती है और अनभीष्ट चींटी चींटे मूषक आदि क्षुद्र जन्तु उसमें प्रविष्ट हो घर करके दूषित बना देते हैं। इसी प्रकार इन्द्रियों, मन और आत्मिक अन्तःस्थलरूप पात्रों में जब छिद्र हो जाते हैं तो अभीष्ट सद्गुण निकल जाते हैं और अनभीष्ट संक्रामक दोष उन में प्रविष्ट हो जाते हैं। इनमें छिद्र प्रमाद और अज्ञान के साथ वर्तने से हो जाते हैं उन्हें शीघ्र से शीघ्र बन्द करना चाहिए। अब प्रस्तुत मन्त्रानुसार उन छिद्रों से बाहिर निकलने वाले अभीष्ट सद्गुणों और बाहिर से अन्दर प्रविष्ट होने वाले अनभीष्ट दुर्गुणों का विवरण तथा छिद्रनिरोधक उपायों का प्रदर्शन करते हैं।

मनुष्य को उक्त मन्त्रानुसार इस प्रकार आत्मनिरीक्षण (अपनी पड़ताल) करना चाहिए कि कहीं मेरे नेत्ररूप पात्र में छिद्र तो नहीं हो गया, जिसके अन्दर से सद्दृष्टि समदृष्टि मित्रदृष्टि रूप सुधा तो बह बह कर नष्ट नहीं हो रही और बाहिर से कुदृष्टि पक्षपातदृष्टि वैरदृष्टि रूप कीटपतङ्ग तो घर नहीं बना रहे हैं। देखना चाहिए मेरे मन रूप पात्र में कोई ऐसा छिद्र तो नहीं हो गया जिसमें से संयम, स्थिरता, हित-चिन्तनरूप सोमरस झिर झिर कर नष्ट तो नहीं हो रहा और बाहिर से कामवासना चाञ्चल्य अपकारभावनारूप तन्तुजीव

(मकड़ियां) तो जाल नहीं बिछा रही हैं। देखना चाहिए कि मेरे हृदय रूप आत्मिक अन्तःस्थल पात्र में कोई ऐसा छिद्र तो नहीं हो गया जिस में से सदाचारता, शिष्टता, उदारता, दया, स्नेहरूप अमृत तो टपक टपक कर नष्ट नहीं हो रहा और बाहिर से आकर अनाचारता, अशिष्टता, कठोरता, निर्दयता, रूक्षता, रूप मूषक या सरीसृप तो आवास नहीं बना रहे हैं।

समस्त इन्द्रियों को पाप में प्रवृत्त कराने का प्रधान कार्य नेत्र करता है अतः इसे सम्भालने की अधिक आवश्यकता है, नेत्र अपनी दृष्टि से, मन सङ्कल्प से और आत्मिक अन्तःस्थल आत्मीयता (अपनापन) से प्रमादवश अज्ञानवश अथवा अनुचित ढंग से प्रवृत्त होकर दोषों पापों को अन्दर प्रविष्ट करते हैं, जब भी मनुष्य किसी ठोकर से या उपदेश से या चेतावनी से सचेत हो तुरन्त अपनी पूर्णशक्ति से प्रयत्न कर बाहिर निकाल दे ये सब जीवनभवन में अग्नि लगाने वाले हैं वेद में अन्यत्र इन्हें दूर करने के लिये कहा है—

परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षान् वनानि सञ्चर गृहेषु गोषु मे मनः॥
(अथर्व० ६।४५।१)

ओ मन के पापभाव! तू दूर हो जा क्योंकि तू निन्दनीय बातों को पसन्द करता है, दूर हो जा मैं तुझे नहीं चाहता हूँ वृक्षों वनों में चला जा मेरे मन में न रह मेरा मन तो घरों स्त्री पुत्र आदि की रक्षा में और गो आदि की पालना में रहेगा।

इस मन्त्रानुसार मनुष्यों को पाप दूर करने का यत्न इस प्रकार करना चाहिये कि कहीं वनमें जङ्गल में जाकर जगदीशदेव की विभूति को लक्ष्य कर, अपने आपपर दृष्टि डाल उसके दुष्परिणामों को समझ दोषदृष्टि करे और वहां ही उसे त्याग देने का पूर्ण सङ्कल्प करना चाहिये और अबसे पाप की ओर न चलकर स्त्री बच्चों गो आदि के पालन में मन लगाए रखूंगा, ऐसा निश्चय करे।

बाहिरी दुर्गुणों का अन्दर प्रवेश न होने पर पूर्वोक्त भीतरी सदगुण "सद्दृष्टि, समदृष्टि, मित्रदृष्टि, संयम, स्थिरता, हितचिन्तन, शिष्टता, सदाचारता, उदारता, दया, स्नेह" अन्दर सुरक्षित रहते हुए मनुष्य को सच्ची मानवता और देवत्व की ओर लेजाने वाले और परमात्मसत्सङ्ग कराने वाले सिद्ध होंगे, तथा उनकी सुरक्षा और वृद्धि का परम साधन अन्तर्यामी सर्वज्ञ परमात्मा की स्तुति प्रार्थना और उपासना है यह भी जानना चाहिए।

आसन

योग के अभ्यासों में से व्रताभ्यासों का तो वैदिक दृष्टि से वर्णन पूर्व सन्दर्भों में आ चुका है, अब क्रियाभ्यासों को भी वैदिक दृष्टि से प्रदर्शित किया जाता है। क्रियाभ्यास में प्रथम स्थान आसन का है। कुछ आसन व्यायाम-सम्बन्धी हैं और कुछ चिकित्सा-सम्बन्धी हैं, परन्तु ध्यान के लिये जो आसन हैं वे योगासन कहलाते हैं।

योगदर्शन के अध्यात्म का आसन—

स्थिरसुखमासनम् ॥

(योग द० २।४६)

स्थिर अर्थात् निश्चल-शरीर का निश्चल रूप सुख जिसमें हो वह आसन है और वह ऐसा आसन—

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥

(योग द० २।४६)

बाह्य शारीरिक प्रयत्न के शैथिल्य अर्थात् अभाव से तथा अनन्त आकाश में समापत्ति करने से बनता है।

सामान्य रूप से शरीर एवं शरीराङ्गों की गतिनिवृत्ति का नाम आसन या बैठना है। उसे योगाभ्यास में विशेष रूप से बाह्य शरीर एवं शरीराङ्गों की गतिनिवृत्ति के साथ बाह्य तथा आन्तरिक अङ्गों की चेष्टानिवृत्ति करने, उनमें सर्व प्रयत्न का

अभाव करने, व्यासानुसार 'प्रयत्नोपरमात्' प्रयत्नमात्र का उपराम कर देने और अनन्त आकाश में विलीन कर देने से उक्त आसन बनता है।

वैदिक अध्यात्म में—

संसीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः।
विधूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥

(ऋ० १।३६।९)

अर्थ—(अग्ने मियेध्य) हे ज्ञानवान् ध्यानाभ्यासी जन! (संसीदस्व) समासीन हो—भली प्रकार बैठ—शरीर एवं शरीराङ्गों की क्रिया को निवृत्त कर उन्हें निष्क्रिय बना–ढीला कर विलीन-सा कर (महान्-असि) तू शरीररूप नहीं किन्तु शरीर से पृथक् महान् आत्मा है अतः शरीर और शरीराङ्गों से उपेक्षा कर अपने आत्मा को महान् अनन्त परमात्मदेव की ओर ले चल (देववीतमः) उस अपने इष्ट देव परमात्मदेव की प्राप्ति की अतिकामना वाला तू (शोचस्व) उज्ज्वल बन बाहिरी दृष्टि से मन को हटा अन्तर्दृष्टिवाला बन (प्रशस्त दर्शतं विधूमम्-अरुषं सृज) अपना श्रेष्ठ दर्शनीय सुन्दर निश्चल चेतन स्वरूप सम्पादन कर।

यहां वैदिक अध्यात्म के आसन में सेवन करने योग्य निम्न विशेष बातें आई हैं:—

(१) 'संसीदस्व'—शरीर तथा समस्त शरीराङ्गों को निश्चेष्ट या ढीला करना।

(२) 'महान्-असि' अपने को शरीर रूप न समझना, अपितु इस से भिन्न महान् उत्कृष्ट समझ इस शरीर से उपेक्षा कर भुला सा देना, विलीन सा कर देना, अपने मन या अपने आत्मा को अनन्त परमात्मा में लगाना।

(३) 'शोचस्व देववीतमः'—अन्तर्मुखी होना देदीप्यमान तथा परमात्मा का अनुरागी बनना।

(४) 'विधूममग्ने-अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्'—अपने निश्चल श्रेष्ठ असङ्ग चेतनस्वरूप के सम्पादनार्थ उद्यत होना।

शरीर को शिथिल करना, मन को शरीर एवं शरीराङ्गों की ओर से हटाना। उन्हें विलीन सा कर देना, अन्तर्मुखी होना, अपने निश्चल अमर आत्म-स्वरूप का सम्पादन करना।

प्राणायाम

योग के क्रियाभ्यासों में दूसरा स्थान प्राणायाम का है। आसन में शरीर एवं शरीराङ्गों को स्थिर तथा नियन्त्रित करना आया, प्राणायाम में प्राणों को स्थिर तथा नियन्त्रित किया जाता है, जैसा कि पातञ्जल योगसूत्र में कहा है।

योग दर्शन के अध्यात्म में—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

(योगदर्शन २।४४)

अर्थात् आसन लगा लेने के अनन्तर श्वास—जो बाहिर से अन्दर वायु लिया जाता है, और प्रश्वास जो अन्दर से बाहर निकाला जाता है, उन दोनों की गति का अर्थात् गमन-आगमन का रोक देना प्राणायाम है।

दह्यन्ते ध्मायमानां धातूनां यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

(मनु० ६।७१)

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। (योग दर्शन)

धारणासु योग्यता मनसः। (योग दर्शन)

अर्थात् जैसे स्वर्ण आदि धातु के मल अग्नि में धोंकने से जल जाते हैं उसी प्रकार इन्द्रियों के दोष प्राणों के निग्रह से

भस्म हो जाते हैं। प्राणायाम से प्रकाश का आवरण सत्त्व का आवरण रजोगुण तमोगुण रूप एवं अज्ञान रूप अन्धकार क्षीण हो जाता है। प्राणायाम से आगे धारणा अभ्यास करने में मन की योग्यता हो जाती है।

वैदिक अध्यात्म में—

नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते।
नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः॥

(अथर्व ११।६।५)

अर्थ—(प्राण ते-आयते नमः) हे प्राण! तुझ अन्दर आते हुए के लिये नमः स्वागत हो (परायते नमः) बाहिर जाते हुए के लिये स्वागत हो। (ते तिष्ठते नमः) तुझ अन्दर स्थिर हुए के लिये स्वागत हो (उत-ते-आसीनाय नमः) अपि च बाहिर आकर स्थिर हुए के लिये स्वागत हो।

श्वास का अन्दर आकर स्थिर होना और बाहिर निकल कर स्थिर होना ये दो प्रकार का प्राणायाम वैदिक दृष्टि से दर्शाया गया है। और जैसे श्वास का लेना तथा छोड़ना स्वागत के योग्य अर्थात् स्वास्थ्यजनक या हितकर है एवं श्वास लेकर अन्दर रोकना आभ्यन्तर प्राणायाम करना और श्वास को बाहिर निकाल कर रोकना बाह्य प्राणायाम करना भी स्वास्थ्य-जनक और हितकर है, यह सिद्ध हुआ। वैदिक दृष्टि में प्राणायाम का यह एक लाभ प्रतिभासित होता है कि प्राणायाम करना श्वास प्रश्वास को रोकना प्राणयन्त्र को विश्राम देना है

परन्तु इस प्राणयन्त्र के विश्राम में अन्यत्र कलायन्त्र (मशीन) के विश्राम से भारी अन्तर है। अन्य निर्जीव कलायन्त्र (मशीन) के विश्राम में मशीन में मल लग जाया करता है, परन्तु प्राणयन्त्र रूप सजीव मशीन के विश्राम में प्राण अपने आन्तरिक व्यापार से प्राणयन्त्र का शोधन (सफाई) किया करता है अतः प्राणायाम से स्वास्थ्य तथा जीवनीयशक्ति की वद्धि होती है।

प्रत्याहार

आसन में शरीर एवं शरीराङ्गों की स्थिरता और नियन्त्रण हुआ प्राणायाम में प्राणों की स्थिरता और नियन्त्रण कहा गया, प्रत्याहार में इन्द्रियों-इन्द्रियवृत्तियों की स्थिरता एवं नियन्त्रण करना होता है जैसा कि पातञ्जल योग दर्शन में कहा गया है।

योग दर्शन के अध्यात्म में—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। (योगदर्शन २।५४)

इन्द्रियों का अपने विषय से हट जाने पर चित्तस्वरूप के अनुसार हो जाना प्रत्याहार है।

वैदिक अध्यात्म में—

वि मे कर्णा पतयतो विचक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः किंस्विद् वक्ष्यामि किमु नु मनिष्ये॥

(ऋ० ६।४।६)

वक्तव्यः—इस मन्त्र में 'वि' उपसर्ग का प्रयोग है, 'वि' के विरुद्ध और विशेष दो अर्थ होते हैं यहाँ मन्त्र में श्लेषालङ्कार से ये दोनों अर्थ हैं।

'वि' के विरुद्धार्थ में मन्त्रार्थ—

(मे कर्णा विपतयतः) मेरे कान अपने शब्द श्रवण व्यसन से विगत हो गए—अलग हो गए-हट गए उन्होंने शब्द श्रवण व्यसन को छोड़ दिया (चक्षुः-वि-) नेत्र अपने रूपव्यसन से अलग हो गया उसने रूपव्यसन को छोड़ दिया (इदं ज्योतिः-यत्-हृदये-आहितं वि-) यह अहं ज्योति जो हृदय में विराजमान है वह अपने अहंममभाव रूप राग से अलग हो गई उसने अहङ्कार ममकार करना छोड़ दिया (दूर-आधीः-मे मनः-वि-चरति) दूर-दूर की सोचने वाला मेरा मन अपने सङ्कल्प-विकल्प रूप प्रपञ्च से अलग हो गया उसने सङ्कल्प विकल्प प्रपञ्च को छोड़ दिया (किंस्विद् वक्ष्यामि किमु नु मनिष्ये) मैं अपनी इस स्थिति को क्या कहूँ और क्या मानूं ?

योगदर्शन के अध्यात्म में बहिष्करण रूप इन्द्रियों का ही प्रत्याहार था किन्तु उक्त वैदिक अध्यात्म में बहिष्करण रूप इन्द्रियों और अन्तःकरण रूप मन आदि का प्रत्याहार कहा गया है, यहाँ बहिष्करण रूप इन्द्रियों में से नेत्र तथा श्रोत्र प्रधान इन्द्रियां और अन्तःकरण चतुष्टय में से प्रधान रूप मन तथा अहङ्कार को दिया है।

मनुष्य को सांसारिक विषयों में आकर्षित करने वाले कान, आँख अहङ्कार की ममत्ववृत्ति और मन हैं। कानों को गाना बजाना आदि खींच लेता है आँखों को रूप खींच लेता है। पुत्र दारा आदि अहङ्कार रूप अन्तःस्थल को खींच लेते हैं

और नाना प्रकार के कामभाव एवं सङ्कल्प विकल्प मन को खींच लेते हैं किन्तु उन कान आँख अहङ्कार और मन का उन व्यसनों से प्रत्याहृत हो जाना हट जाना प्रत्याहार है।

'वि' के विशेषार्थ में मन्त्रार्थ—

वक्तव्य—मन्त्र का देवता प्रजापति अर्थात् जगत्स्वामी परमात्मा है। अतः—

(मे कर्णा वि-पतयतः) मेरे कान प्रजापति परमात्मा में विशेष रूप से चले गए—अब जो कुछ सुनना चाहते हैं तो वे प्रभुकीर्तन गुणगान ही सुनना चाहते हैं (चक्षुः-वि-) नेत्र भी प्रजापति परमेश्वर में विशेषरूप से पहुँच गई अब जो कुछ देखना चाहती या देखती है परमात्मा की सत्ता एवं विभूति देखना चाहती है और देखती है (इदं ज्योतिः-यत्-हृदये-आहितं वि-) यह अहं ज्योति जो हृदय में विराजमान है वह प्रजापति जगदीश देव अन्तर्यामी में विशेषरूप से समाविष्ट हो गई उसने अन्तर्यामी परमात्मा को पूर्णरूप से अपना लिया उसमें तन्मय हो गई (दूरे-आधीः-मे मनः-वि-चरति) दूर दूर की सोचने वाला मेरा मन प्रजापति परमात्मा में विशेषरूप से निमग्न हो गया उसको परमात्मा का ही चिन्तन-स्मरण होता है (किंस्विद् वक्ष्यामि किमु नु मनिष्ये) मैं अपनी इस स्थिति को क्या कहूँ और क्या मानूं ?

उक्त कान, आँख, अस्मिता और मन जब विश्वनायक परमात्मा की ओर इस प्रकार आकर्षित तथा उसके राग में

रञ्जित हो कि कानों से सुनना हो तो उसी परमात्मदेव के प्रवचनपाठों को सुनना, आँखों से देखना पढ़ना हो तो उसी की चर्चा पढ़ना देखना, हृदय में अपनाना हो तो उसी परमात्मा को अपाना उसी से नाता जोड़ना, मन में चिन्तन करना तो उसी का चिन्तन करना अनायास बनता है।

यह वैदिक अध्यात्म का प्रत्याहार योगदर्शन के प्रत्याहार से उत्कृष्ट होने पर प्रत्याहार समझना चाहिए। इस प्रत्याहार में नेत्र और श्रोत्र पर नियन्त्रण का आदेश महत्त्वपूर्ण है। वेद में अन्यत्र भी इन्हीं दोनों नेत्र और श्रोत्र के सम्बन्ध में कहा—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

(ऋ० १।८९।२, यजु० २५।२८)

(देवाः-कर्णेभिः-भद्रं शृणुयाम) हम ज्ञानवान् विद्वान् होते हुए कानों से भद्र-शुभ कल्याणमय शब्द सुनें (यजत्राः-अक्षभिः-भद्रं पश्येम) हम उत्तम कर्मशील सत्कर्मपरायण होते हुए आँखों से भद्र-शुभ कल्याणमय पुण्यरूप दर्शन करें।

मानस अन्तःस्थल पर स्थायी प्रभाव एक तो कानों से सुन कर दूसरा आँखों से देख कर पड़ता है। मानस अन्तःस्थल प्रतिबिम्बगृह (फोटो कैमरा) है इस में दो गवाक्ष (झरोखे) हैं एक श्रोत्र दूसरा नेत्र। श्रोत्र गवाक्ष से ध्वनि पहुँच कर मानस अन्तःस्थल में ध्वनिचित्र खिंच जाता है जो स्थायी रूप से मानस अन्तःकोष्ठ में प्रतिध्वनित होता रहता है, एवं नेत्ररूप गवाक्ष से दृश्यरूप पहुँच कर मानस अन्तःस्थल में दृश्यचित्र

खिंच जाता है जो स्थायीरूप से मानस अन्त:स्थल में प्रतिभासित होता रहता है चमचमाया करता है। इस प्रकार ध्वनि और रूप या श्रवण और दर्शन का संस्कार मानस अन्त:स्थल पर पड़ता है वह यदि अशुभ हो अपुण्य हो तो मनुष्य का अहित करता है और यदि शुभ हो पुण्य हो तो मनुष्य का कल्याण करता है। अत: वैदिक प्रत्याहार में इन कान आँख को विशेषरूपेण अशुभ श्रवण दर्शन से प्रत्याहृत करके शुभ श्रवण परमात्मश्रवण शुभ दर्शन परमात्मविभूति के दर्शन में लगा देना अभीष्ट है।

धारणा, ध्यान, समाधि

प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को नियन्त्रित करने के अनन्तर धारणाद्वारा मन को नियन्त्रित करना होता है। ध्यान में बुद्धि को सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त को और असम्प्रज्ञात समाधि में अहङ्कार को नियन्त्रित किया जाता है। धारणा का स्वरूप योगदर्शन में बतलाया है।

योगदर्शन के अध्यात्म में धारणा—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

(योगदर्शन ३।१)

चित्त का किसी स्थान में बान्धना-लगाना धारणा है।

जब मन को किसी स्थान में लगा दिया जाता है तो वह अन्य सब कुछ छोड़ कर एक वस्तु पर स्थिर हो जाता है वहीं एक वस्तु तक ही रहता है।

वैदिक अध्यात्म में धारणा—

यस्मादृते न सिद्ध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति॥ (ऋ० १।१८।७)

(यस्मात्-ऋते) जिसके विना (विपश्चितः-चन) विद्वान् का भी (यज्ञः) यज्ञ-अध्यात्मयज्ञ (न सिद्ध्यति) सिद्ध नहीं होता (सः) वह इष्टदेव मरमात्मा (धीनां योगम्) धारणाओं के योग संयोग-सम्बन्ध को (इन्वति) प्राप्त होता है।

योगदर्शन के अध्यात्म में धारणा के स्थान बाहिरी जड़ वस्तुएं तथा शरीर के नाभि हृदय आदि स्थल भी हैं परन्तु वैदिक अध्यात्म में परमात्मा में ही धारणा करने का आदर्श प्रतिपादन किया है।

धारणा में मन का निरन्तर उसी वस्तु में स्थिरता होना या उसी वस्तु में लगे रहना ध्यान है यह योगदर्शन में कहा है।

योगदर्शन के अध्यात्म में ध्यान—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥

(योगदर्शन ३।२)

धारणा में चित्त को जिस देश में लगाया गया हो—रखा हो उस देश में प्रतीति का एक प्रवाहता ध्यान है।

वैदिक अध्यात्म में ध्यान—

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या [आभरेम] ॥ (यजु० ११।२)

(वयं युक्तेन मनसा) हम युक्त मन से – धारणा द्वारा स्थिर किए मन से (सवितुः–देवस्य सवे) उत्पादक प्रेरक उन्नायक प्रकाशमान परमात्मदेव के ऐश्वर्यस्वरूप में (स्वर्ग्याय) सुखों में योग्य सुख परमानन्द एवं मोक्ष को प्राप्त करने के लिये (शक्त्या-आभरेम) शक्ति से आत्मशक्ति से अपने को नम्रीभूत एवं समर्पण करें।

वैदिक अध्यात्म में चेतनदेव अन्तर्यामी परमात्मा के ही ध्यान करने का आदर्श दर्शाया है।

योगदर्शन के अध्यात्म में समाधि—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।

(योगदर्शन ३।३)

वह ध्यान ही वस्तुमात्र प्रतीतिरूप निजस्वरूप से शून्य जैसा भान होना अपने मैं की ओर वृत्ति न जाना समाधि है ।

वैदिक अध्यात्मवाद—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् ।

स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥ (ऋ० ८।४४।२३)

(अग्ने) हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन् ! (यत्–अहं त्वं स्याम्) यदि या जब कि मैं तू हो जाऊं (त्वं वा घा–अहं स्याः) और तू भी मैं हो जा (ते–आशिषः) तेरे आदेश तेरी हितभावनाएँ (इह सत्याः स्यु) इस जीवन में सत्य–सफल हो जावें ।

योगदर्शन के अध्यात्म की समाधि में बाहिरी और भीतरी जड़ वस्तु में अर्थमात्र प्रतीति और एकता थी । वैदिक अध्यात्म की समाधि में चेतनदेव परमात्मा में अर्थमात्र प्रतीति और एकता दर्शाई है ।

उपास्य के गुण उपासक में आया करते हैं यह ऋषि दयानन्द ने भी लिखा है । वेद में भी कहा है:—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । वीर्यमसि वीर्यमयि धेहि । बलमसि बलं मयि धेहि । ओजोऽस्योजो मयि धेहि । मन्यु-

रसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि।

(यजु० १९।९)

(तेजः-असि तेजः-मयि धेहि) हे परमात्मन्! तू तेजःस्वरूप है मुझ में भी तेज धारण करा। (वीर्यम्-असि वीर्यं मयि धेहि) हे परमात्मन्! तू पराक्रमरूप है मुझ में भी पराक्रम धारण करा। (बलम्-असि बलं मयि धेहि) हे परमात्मन्! तू बलस्वरूप है मुझ में भी बल धारण करा। (ओजः-असि-ओजः-मयि धेहि) हे परमात्मन्! तू ओजरूप है मुझ में भी ओज धारण करा। (मन्युः-असि मन्युं मयि धेहि) हे परमात्मन्! तू प्रभावस्वरूप है मुझ में भी प्रभाव धारण करा। (सहः-असि सहः-मयि धेहि) हे परमात्मन्! तू साहसस्वरूप है मुझ में भी साहस धारण करा।

समाधि में उपासक उपास्य में तल्लीन हो जाने से उपास्य के गुणों को धारण करता है, जैसे लोहे का गोला अग्नि में पड़ने से अग्नि-जैसा जाज्वल्यमान प्रकाशमान हो जाता है इस अंश में तो वह गोला अभिन्न सा हो जाता है परन्तु निज परिमाण लोहे का गोल आदि पृथक भी रहता है। उसी भांति समाधि में आत्मा परमात्मा के समान गुण धारण करता हुआ भी स्वरूप से भिन्न रहता ही है। लोहे का गोला अग्नि बन गया पर गोलरूप में रहता ही है। अग्नि लोहे के गोले में गोल सी दीखने लगी पर गोले के बाहर भी तो है ही। यही स्थिति आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में समाधि में भेद-

अभेद की हो जाती है। अस्तु ! अब परमात्मा का दर्शन समागम सत्सङ्ग का स्थान कौनसा है यह देखें।

परमात्मसत्सङ्ग का स्थान—

अन्तर्यामी परमात्मदेव यद्यपि सर्वव्यापक है विभु है तथापि उसका योग उसका समागम उसका साक्षात् हृदयकमल में होता है। विभु होने से वह हृदय में तो विराजमान है ही जीवात्मा अल्पशक्ति है अविभु है अतएव अनन्त प्रदेश में परमात्मा के समागमार्थ असमर्थ होने से हृदयदेश में समागम सुलभ है और सम्भव है। तथा हृदय शरीरयन्त्र का मूलस्थान या केन्द्र (मोटर) है, मन भी वहीं शरीरयन्त्र के केन्द्रस्थान में युक्त विद्युत् की भांति रहता है और इन सब का नियन्ता (ड्राईवर) जीवात्मा के भी हृदय में विशेष सचेत रहने के कारण उसका मुख्य स्थान हृदय ही है। इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जासकता है—किसी कलायन्त्र (मशीन) का ड्राईवर शरीरधारी उस कलायन्त्र (मशीन) से अलग होता है पर सामान्यतः उसका ध्यान समस्त कलायन्त्र (मशीन) पर रहता है और विशेषरूप से कलायन्त्र के मूलरूप केन्द्र (मोटर) पर होता है। मान लो मशीनरी का ड्रईवर तो है पर उससे भिन्न शरीरधारी नहीं है। तब वह ड्राईवर कहां होगा। तो कहना होगा सामान्य रूप से समस्त मशीनरी में है, और विशेषरूप से मूलस्थान मोटर में होगा। एवं शरीरयन्त्र का ड्राईवर आत्मा सामान्यरूप से समस्त शरीर में होता हुआ विशेषरूप से हृदयरूप मूल स्थान में हुआ। विशेष

ध्यान या चितिशक्ति हृदय में होने से परमात्मा का ध्यान या समाधि भी हृदय में ही होती है यह स्पष्ट हुआ। वेद में कहा है—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥
(अथर्व० १०। ८। ४३)

(नवद्वारं त्रिभिः-गुणेभिः-आवृत पुण्डरीकम्) नौ द्वारों वाला अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियों और मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार रूप अन्तःकरण चतुष्टय द्वार—द्वारसदृश प्रवेश निकाससाधन-वाला सत्त्वरज तमरूप तीन गुणों से पूर्ण हृदय कमल है। (तस्मिन् यत्-आत्मन्वत्-यक्षम्) उसमें जो आत्मावाला अर्थात् जीवात्मा के सहित पूजनीय परमात्मदेव है (तद्-वै ब्रह्मविदः-विदुः) उसे निश्चय ब्रह्मवेत्ता जानते हैं।

पांचों ज्ञानेन्द्रियों का गन्ध से ले कर शब्दपर्यन्त समस्त तन्मात्राओं का अन्तिम प्रवेश, सूचना, ध्यान या समाधि हृदय में ही होती है यह अभ्यास से देखा गया है। मन बुद्धि चित्त अहङ्कार के सङ्कल्प आदि इनके द्वारा हृदय में आत्मा तक जाते हैं। प्रकृति के तीनों गुण, आत्मा परमात्मा का समान स्थान हृदय है। अतः हृदय में समाधि या परमात्मा का सत्सङ्ग साक्षात्कार होता है।

वैदिक उपास्य देव कौन है अब यह देखें—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ँ शरीरम् ।
ओं क्रतो स्मर क्लिवे स्मर कृत ँ स्मर ॥

(यजु० ४०।१५)

(वायुः) बाह्य वायु (अनिलम्) आन्तरिक वायु—प्राण शक्ति को धारण करता है। और वह (अमृतम्) मरण-धर्मरहित—अमर जीवात्मा को धारण करता है (अथ) अनन्तर ऐसा सङ्गठन न रहने पर—किसी एक के भी अभाव होजाने पर (शरीरं भस्मान्तम्) शरीर भस्मान्त है—भस्म हो जाना नाश हो जाना है अन्त में जिसका अर्थात् नश्वर है, अतः (क्रतो) हे क्रियाशील एवं प्रज्ञानवान् जीव ! तू (ओं स्मर) ओ३म् का स्मरण कर (क्लिवे स्मर) अपने सामर्थ्य के लिये स्मरण कर (कृतं स्मर) कर्म का स्मरण कर अर्थात् कर्तव्य का स्मरण कर।

यहां वेद में ओ३म् का स्मरण करना बतलाया है, योग-दर्शन में भी "तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थभावनम्" (योग० १।२७,२८) ईश्वर का वाचक ओ३म् है और उसका जप करना चाहिए ऐसा कहा है, अतः उपास्य देव ओ३म् ही है।

इति

१६।१२।१९४९ ई०
पौष २००६ वि०

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक